

## कबीर की काव्य-भाषा

राजेश कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर-हिन्दी, राजकीय महाविद्यालय, मॉट, मथुरा, उत्तर प्रदेश, भारत।

### सारांश

साहित्य, रचनाकार और समाज का अनिवार्य सम्बन्ध है। कबीर ने उसे पूरी ईमानदारी से निभाया। मध्यकाल के सामन्ती परिवेश में धार्मिक-सामाजिक पाखण्डों का जितना मुखर और सक्रिय विरोध उन्होंने किया, वह आज के लोकतान्त्रिक समय में भी असंभव है। हिन्दी साहित्य में ऐसा दुस्साहसिक व्यंग्यकार दूसरा कोई नहीं हुआ। कबीर के इस काम में काव्य-भाषा या काव्य-शिल्प की रुकावट कभी नहीं आई। दरअसल काव्यभाषा को उन्होंने हमेशा साधन ही माना, साध्य कभी नहीं। उनकी कविता में सामाजिक कुरीतियों के विरोध के बहाने काव्यतत्वों का समुचित प्रयोग तो मिलता है, उनका ढेर कहीं नहीं। इन सब के बावजूद रस, छंद, अलंकार आदि काव्यांगों का जितना औचित्यपूर्ण प्रयोग कबीर की कविता में मिलता है, वह उनके समकालीन ही नहीं पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों में भी नहीं मिलता।

**बीज शब्द :** मध्यकाल, व्यंग्य, काव्य-भाषा, कुरीति, पाखण्ड, उलटबाँसी, रस, छंद, अलंकार।

### प्रस्तावना

महत्वपूर्ण और प्रासंगिक न होते हुए भी यह विवाद आज तक बना हुआ है कि कबीर मूलतः क्या थे – भक्त, कवि या समाज-सुधारक। उनकी कविताओं के कथ्य के आधार पर कुछ विद्वान उन्हें भक्त मानते हैं तो कुछ समाज-सुधारक। परम्परागत भारतीय काव्यशास्त्रीय दृष्टि के अनुसार कलात्मक भाषिक संरचना किसी कृति की साहित्यिकता का आधार होती है। शायद इसी कारणवश उन्हें एक कवि के रूप में प्रतिष्ठा बहुत बाद में मिली। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी उन्हें धर्मगुरु मानते हैं और उनके काव्यत्व को घलुए में मिली हुई वस्तु –

“यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।”<sup>1</sup>

काव्यशास्त्रीय ज्ञान-परम्परा से कबीर का कोई सम्बन्ध नहीं था। जो व्यक्ति जीवन भर शास्त्रों और ‘कागद की लेखी’ के विरुद्ध रहा हो, वह काव्यशास्त्र को आधार बनाकर कविता क्यों लिखेगा ! लेकिन उनकी सहज रूप से कही गई बात में भी कविता लक्षित होती है। डा० माता प्रसाद गुप्त लिखते हैं—

“यदि कविता विचारों और भावनाओं की प्रभावपूर्ण और सरस अभिव्यक्ति मात्र है, तो कबीर में ‘कविता’ की कभी नहीं है और निस्संदेह अपनी इस विशेषता में वे किसी से कम नहीं हैं।”<sup>2</sup> लेकिन कबीर की कविता में मात्र ‘विचारों और भावनाओं की प्रभावपूर्ण और सरस अभिव्यक्ति’ मात्र ही नहीं है, उसमें काव्यशास्त्रीय तत्वों का भी उचित समावेश है। उसमें रस, अलंकार, छंद, प्रतीक, बिंब आदि महत्वपूर्ण काव्यांगों को आसानी से पहचाना जा सकता है, भले ही उन्होंने इनका प्रयोग सायास न किया हो।

### रस

कबीर की कविता में भक्ति, श्रृंगार (वियोग एवं संयोग), वात्सल्य, शांत, वीर, हास्य आदि विभिन्न रसों का यथोचित समावेश मिलता है। उनकी कविता में रसों की अवस्थिति के विषय में रामचन्द्र तिवारी ने विस्तार से लिखा है। उनका एक उद्धरण दृष्टव्य है –

“कबीर की प्रणयानुभूतियों में आध्यात्मिक श्रृंगार या मधुर रस की स्थिति मान्य है। उनकी नश्वरता का बोध कराने वाली उक्तियों में ‘शांतरस’ की व्यंजना हुई है और एक सच्चे शूरवीर की भाँति

सांसारिक विषयवासनाओं से जूझने के लिए उनके द्वारा व्यक्त ‘उत्साह’ में ‘वीररस’ की सत्ता लक्षित की गई है। उनके तीखे और प्रखर व्यंग्य हास्य की सृष्टि करने में समर्थ हैं।”<sup>3</sup> श्रृंगार रस का एक उदाहरण दृष्टव्य है –

बालम आव हमारे गेह रे।  
तुम बिन दुखिया देह रे।।  
सब कोई कहै तुम्हारौ नारी, मोकौ इहै अंदेह रे।  
एक मेक हवै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे।।

वैसे अगर इन पंक्तियों के साथ रचनाकार का नाम न दिया जाय तो इसे विशुद्ध श्रृंगारिक रचना ही माना जाएगा। हालांकि श्रृंगारिकता भी मध्यकालीन भक्ति साहित्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। शांत रस का एक उदाहरण देखें, जिसमें जीव की स्वाभाविक नश्वरता का उल्लेख है –

दस द्वारे का पिंजरा, तामें पंछी पौन।  
रहिबे को आचरज है, गए अचंभा कौन।।

इसी तरह युद्धस्थल पर योद्धा द्वारा आत्मबलिदान से कम की अभिव्यक्ति नहीं है कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में –

एक समसेर इकसार बजती रहै  
खेल कोई सूरमा संत झेलै,  
काम दल जीति करि क्रोध पैमाल करि  
परम सुखधाम तहँ सुरति मेले।।  
सीस से नेह करि ज्ञान कौ खंग लै  
आय चौगान में खेल खेलें।  
कहैं कबीर सोई संत जन सूरमा  
सीस को सौंप करि करम ठेलै।।

हास्य रस का वह बहु प्रचलित उदाहरण देखें जिसके माध्यम से कबीर ने उस धार्मिक पाखंड का विरोध किया है जो हमारे समय की भी विडंबना है, जिससे आज तक लोग नाभिनालबद्ध हैं—

काँकर पाथर जोरि कै, मस्जिद लई बनाय।  
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय।।

व्यंग्य के साथ-साथ यहाँ हास्य की भी स्वाभाविक सृष्टि हुई है। यह कबीर की विशिष्ट शैली है। व्यंग्य की सार्थकता भी तभी है जब हास्य के माध्यम से उचित संदेश प्रेषित हो।

### अलंकार

कबीर अलंकार शास्त्र से भी अपरिचित थे, लेकिन उनकी कविता में अलंकारों का भी यथावसर प्रयोग मिलता है। वे अलंकारों का प्रयोग केवल 'प्रयोग' के लिए नहीं करते, न ही कविता के बाह्य सौन्दर्यीकरण के लिए। कथ्य को अधिक से अधिक प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने के प्रयास में उनकी कविता में अनायास ही अलंकार आ गए हैं। विषयवस्तु की संप्रेषणीयता तथा उसके वैशिष्ट्य की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए वे प्रायः उपमा अलंकार का प्रयोग करते हैं -

यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।  
दिन दस के व्यौहार कौं, झूठे रंग न भूल।।

विषयवस्तु के गुणधर्म को विश्वसनीय तथा प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए वे प्रायः रूपक अलंकार का प्रयोग करते हैं, जो उनकी कविता में सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ है -

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि-भ्रमि इवै पड़ंत।  
कहैं कबीर गुन ग्यान थैं एक आध उबरंत।।

कथ्य को सहज रूप से ग्राह्य तथा सरल बनाने के लिए वे मानवीकरण अलंकार का भी प्रयोग करते हैं -

माया महा ठगिनी हम जानी।  
तिरगुन फाँस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।।

वर्ण्य वस्तु को परोक्ष और प्रतीकात्मक ढंग से अभिव्यक्त कर उसे और अधिक संप्रेषणीय बनाने के लिए वे प्रायः अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग करते हैं -

अहेड़ी दौं लाइया, मृग पुकारे रोइ।  
जा बन में क्रीड़ा करी, दाझत है बन सोइ।।

रूपकातिशयोक्ति, दृष्टांत, उत्प्रेक्षा, विभावना, विरोधाभास आदि अलंकार भी कबीर की कविता में यथावसर प्रयुक्त हुए हैं। विभावना और विरोधाभास अलंकार ने उनकी उलटबाँसियों को सशक्त और सार्थक बनाया है, बल्कि कहना चाहिए कि इनके अभाव में उलटबाँसियों की रचना असंभव होती। लेकिन यह भी सच है कि सिद्धांत के अनुरूप रचना नहीं रची जाती, बल्कि रचना के अनुसार सिद्धांत गढ़े जाते हैं, क्योंकि रचना पहले होती है, सिद्धांत बाद में। अतः यह अलंकार शास्त्र के प्रति कबीर का आकर्षण नहीं, बल्कि उनका सहज स्वभाव है।

### काव्य-रूप

कबीर ने कोई महाकाव्य या खण्डकाव्य नहीं रचा। वे सिद्धों और नाथों की काव्य-परम्परा के संवाहक कवि हैं। लोक से जिन काव्य-रूपों को ग्रहण कर इन कवियों ने काव्य-रचना की उनमें से चौदह को कबीर ने भी अपनाया- साखी, सबद (शब्द), रमैनी, चौंतीसा, बावनी, वार, शिंती, चॉचर, बसंत, हिंडोला, बेलि, विप्रमतीसी, कहरा, बिरहुली। इनमें से साखी, सबद और रमैनी उनके प्रिय काव्य-रूप हैं। 'साखी' का अर्थ है 'साक्षी'। संतों द्वारा अनुभव किये गए सत्य को साक्षी कहा गया है, जिसे सिद्धों ने 'उएस' या 'उपदेश' कहा है। सबद (शब्द) या सबदी (शब्दी) कबीर काव्य के गेय पद हैं। 'शब्द' ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। ब्रह्मतत्त्व से युक्त वाणी को ही सबद (शब्द) या सबदी (शब्दी) कहा जाता है।

'रमैनी' रामायण का विकृत रूप है - रामायण से रमैन और रमैन से रमैनी।

### छन्द

डॉ० रामचन्द्र तिवारी ने अपनी पुस्तक 'कबीर-मीमांसा' में कबीर-काव्य में प्रयुक्त 30 प्रकार के छंदों का नाम बताया है।<sup>4</sup> उनकी साखियों में दोहा, सोरठा, उपमान, मुक्तामणि, अवतार, दोहकीय तथा गीता छंद का प्रयोग है। सबद (शब्द) या पदों में चौपाई, चौपई, पद्धरी, डिल्ला, वीर, चौबोला, अरिल्ला, ताटंक, लावनी, सार, सखी, सरसी, विष्णुपद, उल्लाला, चण्डिका, लील, शोभन, कुण्डल, सुखदा तथा अन्य काव्य रूपों में उपर्युक्त छंदों के अलावा कज्जल, पद्धटिका, रूपमाला तथा सिंह छंद का प्रयोग किया गया है।

कबीर के पदों में संगीत (गेयता) का विशेष ध्यान रखा गया है। 'आदि ग्रंथ' में संग्रहीत उनके पद सिरी, गउड़ी, आसा, गूजरी, सोरठि, धनासरी, तिलंग, सूही, बिलावलु आदि रागों के अनुरूप वर्गीकृत हैं। स्पष्ट है कि संगीत तत्व कबीर की कविता की महत्वपूर्ण विशेषता है। गेयता को ध्यान में रखते हुए वे छन्दों का प्रयोग आवश्यकतानुसार शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपों में करते हैं। इसके लिए वे छन्दों में जोड़-घटाव भी करते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से इसे छन्दों का अशुद्ध या विकृत रूप भले ही कह दिया जाय, लेकिन इनमें निहित संगीतात्मकता ने सामान्य जनता में इनकी लोकप्रियता बढ़ाई और कबीर की कविता को कालजयी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कबीर-काव्य में संगीतात्मकता के महत्व पर रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं-

"जिन्हें कबीर की वाणी में कवित्व नहीं दिखाई पड़ता उन्हें कम से कम उसमें निहित 'नाद-तत्व के प्रभाव' से तो प्रभावित होना ही चाहिए।"<sup>5</sup>

### प्रतीक एवं बिंब

अपनी बात को संकेतों के माध्यम से संप्रेषित करने के लिए कबीर प्रतीकों का प्रयोग खूब करते हैं। ये प्रतीक अधिकांशतः नाथों और सिद्धों की परम्परा से ग्रहण किये गए हैं। उन्होंने नये प्रतीकों का भी प्रयोग किया है जिनमें से कई लोक-जीवन से ग्रहण किये गए हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ प्रतीकों की सूची आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' में दी है<sup>6</sup>-

- **मन-** मच्छ, माछ, मीन, जुलाहा, आउज, सियार, रोझ, हस्ती, मतंग, निरंजन आदि।
- **जीवात्मा-** पुत्र, पारथ, जुलाहा, दुलहा, सिंह, मूसा, भौरा, योगी आदि।
- **माया-** माता, नारी, छेरी, गैया, बिलैया।
- **नरातन-** यौवन, दिवस, दिन।
- **इन्द्रिय-** सखी, सहेली इत्यादि।

विभिन्न प्रतीकों का प्रयोग करते हुए कबीर लोक-जीवन की सामान्य दिनचर्या के बिंबों के माध्यम से अपनी बात कहते हैं। यहाँ तक कि वे स्वयं के लिए कुत्ते और ईश्वर के लिए मालिक के प्रतीक का भी प्रयोग निस्संकोच भाव से करते हैं -

कबीर कूता राम का, मोतिया मेरा नाउँ।  
गले राम की जेवड़ी, जिल खींचे तित जाउँ।।

यहाँ कबीर स्वयं (भक्त, आत्मा) को कुत्ता तथा ईश्वर (भगवान, परमात्मा, राम) को मालिक और भक्त-भगवान (आत्मा-परमात्मा) सम्बन्ध को 'जेवड़ी' से प्रतीकित करते हैं और एक गतिशील बिंब के माध्यम से भक्ति की अभिव्यक्ति करते हैं। इसी तरह आत्मा को पत्नी तथा परमात्मा को पति (राम) से प्रतीकित करते हुए वे विवाह

का बिंब प्रस्तुत करते हैं –

दुलहिनि गावहु मंगलाचार।  
हम घर आए राजा राम भरतार।।  
तन रत करि मैं मन रत करिहौँ पाँचों वत्त बराती।  
रामदेव मोहे ब्याहन आए, मैं जोबन मदमाती।।

### उलटबाँसी

नाथों और सिद्धों की परम्परा तथा लोकजीवन से प्राप्त प्रतीकों को प्रयास कबीर अपनी उलटबाँसियों में खूब करते हैं। इन्हें तभी समझा जा सकता है जब इनकी प्रतीक-योजना को समझ लिया जाय। इन उलटबाँसियों की रचना 'संधा भाषा' में की गई है। पंडित विधुशंखर भट्टाचार्य के अनुसार 'संधा' भाषा संस्कृत शब्द 'संधाय' का अपभ्रंश है जिसका अर्थ होता है 'अभिप्राययुक्त भाषा'। किंतु हिन्दी में 'संध्या भाषा' पद अधिक प्रचलित है जिसका अर्थ किया गया है गोधूलि बेला, अर्थात् अंधकार और प्रकाश के बीच की अस्पष्ट स्थिति। योग प्रक्रिया को प्रभावशाली प्रतीकात्मक रूप में समझाने की दृष्टि से रचित इन उलटबाँसियों के संदर्भ में यह भी माना जाता है कि कुतर्की पाखंडियों को चुनौती देने के लिए कबीर ने ऐसी भाषा का प्रयोग जान-बूझकर किया। एक उदाहरण देखें –

ऐसा अद्भुत मेरे गुरु कथा, मैं रहा उमेषै।  
मूसा हस्ती सौं लडै, कोई बिरला पेषै।।  
मूसा पैठा बाँबि मैं, लारै साँपिनि धाई।  
उलटि मूसै साँपिनि गिली, यहु अचरज भाई।।

× × ×  
भील लुका बन बीझ मैं, ससा सर मारै।  
कहैं कबीर ताहि गुरु करौं, जो या पदहिं बिचारे।।

अर्थात्, मेरे गुरु ने एक ऐसी अद्भुत बात बताई कि मैं आश्चर्यचकित रह गया। कोई विरला ही यह समझ पाया है कि चूहा हाथी से लड़ पड़ा, यानि साधक जीवात्मा ने माया को हरा दिया। चूहा (जीवात्मा) साँप के बिल (विषयों) में घुस गया तो विषय रूपी सर्पिणी उससे लड़ पड़ी। लेकिन आश्चर्य है कि चूहे ने पलटकर उसे निगल लिया, अर्थात् साधक ने विषयों पर विजय प्राप्त कर ली। भील (शिकारी) वन में छिप गया है और साधक शश (खरगोश) उस पर ज्ञान-बाण की वर्षा कर रहा है। अंतिम पंक्ति का आशय यही है कि इस पद का अर्थ समझने वाले को कबीर अपना गुरु मान लेंगे। यह स्वघोषित 'विश्वगुरुओं' के लिए चुनौती ही तो है।

### व्यंग्यात्मकता

कबीर की कविता की सबसे बड़ी शक्ति है उसकी व्यंग्यात्मकता तत्कालीन सामाजिक विसंगतियों के जिम्मेदार पाखंडियों से वे अक्सर तर्क-वितर्क करते हैं, उनसे प्रश्न पूछते हैं। उनके तार्किक प्रश्नों में गहरा व्यंग्य छिपा रहता है। समाज में व्याप्त मूर्तिपूजा पर व्यंग्य करते हुए वह लिखते हैं—

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजौँ पहार।  
याते वह चाकी भली पीसि खाय संसार।।

यह तो हुई हिंदू समुदाय के पाखंड की बात। कबीर की दृष्टि में धर्म मात्र पाखण्ड की जड़ है। उनकी दृष्टि किसी भी धर्म के प्रति पक्षपातपूर्ण नहीं है। वास्तव में सच्चा धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति ऐसा ही होता है। मुसलमान भी कबीर के व्यंग्य-आक्रमण से बचे नहीं रह सके –

काँकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई चुनाय।  
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।

समाज का सच्चा हितैषी उसका आलोचक होता है; और समाज का सच्चा आलोचक किसी का पक्ष नहीं लेता। तभी तो कबीर गोरखपंथी योगियों के भी बाह्याडंबरों पर अपना व्यंग्य-प्रहार करना नहीं भूले। यहाँ उनकी भाषा में व्यंग्य के साथ-साथ परिहास और उपहास का भी समावेश हो जाता है। कबीर की भाषा की व्यंग्य-शक्ति को परखते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है –

“व्यंग्य करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वंदी नहीं जानते। पंडित और काजी, अवधू ओर जोगिया, मुल्ला और मौलवी – सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते हैं। अत्यंत सीधी भाषा में वे ऐसी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड़के चल देने के सिवा और कोई रास्ता नहीं पाता।”

### भाषा और शब्दावली

कबीर की कविताओं के कई पाठ विद्वानों ने खोजे हैं और सभी अपनी-अपनी समझ से उनकी प्रामाणिकता का दावा भी करते हैं, लेकिन सबके दावे लगभग परस्पर विरोधी हैं। हिन्दी क्षेत्र के अलग-अलग स्थानों से प्राप्त कबीर ग्रंथावली की भाषा में विविधता है और पाठ में अनिश्चितता। प्रामाणिक पाठ की अनिश्चितता के कारण उनकी भाषा के विषय में अलग-अलग विद्वान अलग-अलग दावा करते रहे हैं। एक समन्वित दृष्टि से देखें तो उनकी कविताओं में राजस्थानी, पंजाबी, पूर्वी (अवधी), भोजपुरी, ब्रज आदि का रूप मिलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी भाषा को पंजाबी, राजस्थानी मिश्रित 'सधुक्कडी' कहा है। उनकी कविता में पंजाबी प्रभाव वाली पंक्तियाँ देखें—

अँषड़ियाँ झाँई पड़ी पंथ निहारि—निहारि।  
जिभड़ियाँ छाला पड़ा, नाम पुकारि—पुकारि।।

इसी तरह क्रमशः खड़ी बोली, अवधी, भोजपुरी, तथा ब्रज प्रभाव वाली पंक्तियों को देखा जा सकता है—

### खड़ी बोली

हम वासी उस देश के, जहाँ बारह मास विलास।  
प्रेम झरै विकसै कमल, तेज पुंज परकास।।  
हम वासी उस देश के, जहवाँ नहिं मास बसंत।  
नीझर झरै महा अमी, भीजत हैं सब संत।।

### अवधी

चली है कुलबोरनी गंगा नहाय।  
सतुवा कराइन बहुरी भुंजाइन, घुँघट ओटे मसकत जाय।  
गठरी बाँधिन मोटरी बाँधिन, खसम के मूँडे दिहिन लदाय।।

### भोजपुरी

सूतल रहलूँ मैं नींद भरि हो, पिया दिहलैं जगाय।  
चरन कँवल के अंजन हो, नैना ले लूँ लगाय।।

### ब्रज

आपनपो आप ही बिसरौ।  
जैसे सोनहा काँच मंदिर मैं भरमत भूँकि मरौ।।

अन्य काव्य-तत्वों की ही तरह भाषा और शब्दावली की विविधता की दृष्टि से भी कबीर बेजोड़ हैं। यह वैविध्य हिन्दी के किसी भी काल के किसी भी अन्य कवि में नहीं मिलता। उनकी इस विविधता पर आचार्य रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है –

“पूरब में भोजपुरी से लेकर पश्चिम में राजस्थानी तक उनका

भाषिक-संवेदनात्मक विस्तार है। यों शब्द के पूरे अर्थ में वे हिंदी कवि हैं।<sup>8</sup>

कबीर-काव्य में न केवल विभिन्न प्रांतों की हिन्दी बोलियों का प्रभाव है, बल्कि तत्कालीन धार्मिक संप्रदायों, साधना-पद्धतियों, दर्शन आदि का भी प्रभाव लक्षित होता है। उनकी कविता में यथा प्रयोग मध्यकालीन धर्म साधनओं, भारतीय दर्शन, सूफी तथा इस्लाम, बौद्ध, जैन, मंत्र-तंत्र, योग आदि से संबंधित पारिभाषिक शब्दावलिओं का प्रयोग मिलता है। सुरति-निरति, कुंडलिनी, इड़ा-पिंगला, गगन-गुफा, सहज समाधि, गगन घटा, निरंजन, सुधा रस, शब्द, अंड, हंसा आदि ऐसे तमाम शब्द इसके उदाहरण हैं। इस्लाम और सूफी मत से सम्बन्धित पीर, मुरीद, रब, रोजा, नमाज, कलमा, बहिश्त, वजूद, अल्लाह, खुदा, इश्क, नूर, बुत, करीम आदि शब्द भी उनकी कविता में खूब प्रयुक्त हुए हैं।

कबीर न केवल धर्म साधना, तंत्र-मंत्र, योग आदि से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग अपनी कविता में करते हैं, बल्कि वे जुलाहों-बुनकरों, किसानों-मजदूरों, कृषि, व्यापार, दस्तकारी, बाजार, विभिन्न पेशेवर शब्दावलियों का भी प्रयोग करते हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है-

मन बनियाँ बनिज न छोड़े।  
जनम जनम का मारा बनियाँ, अजहूँ पूर न तोलै।  
पासंग के अधिकारी लैले, भूला भूला डोलै।

लोक में ही पले-बढ़े और अनुभव-सम्पन्न हुए कबीर का गहरा जुड़ाव लोक-जीवन से इसी तरह लोक-व्यवहार में प्रचलित धारणाओं से सम्बन्धित उनकी कुछ पंक्तियाँ देखें -

नैहरे में दाग लगाय आय चुनरी।  
ऊ रंगरेजवा कै मरम न जानै,  
नहिं मिलै धोबिया कौन करै उजरी।  
तन कै कूँडी ज्ञान कै सौंदन  
साबुन महंग बिचाय या नगरी।  
पहिरि-ओढ़ि के चली ससुररिया,  
गाँवाँ के लोग कहै बड़ी फुहरी।  
कहै कबीर सुनो भाई साधो,  
बिना सतगुरु कबहूँ नहिं सुधरी।

तो जिस तरह कबीर लोक से और अपने परिवेश से संवेदना ग्रहण करते हैं, उसी तरह भाषा और शब्दावली ग्रहण करते हैं। बल्कि कथन की भंगिमा भी, जो उनकी कविता में आकर और भी प्रभावशाली हो जाती है। कबीर की भाषा पर चर्चा में अगर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का बहुप्रयुक्त उद्धरण न दिया जाय तो बात अधूरी ही रह जाएगी। उन्होंने कबीर की भाषा-दक्षता का बहुत सटीक मूल्यांकन किया है -

“भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया- बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नहीं कर सके।”<sup>9</sup>

दरअसल कबीर ने ज्यादातर वही कहा है, जो सामान्य जन-जीवन से गहरे सम्बद्ध है। तो निश्चय ही उसकी अभिव्यक्ति में कठिनाई कम होगी। वे अत्यंत सरल और सहज, लोकग्राह्य भाषा और शैली में अपनी बात कहते हैं। इतनी सदियों के बाद भी, जनता के बीच उनकी अपार लोकप्रियता का सबसे महत्वपूर्ण कारण है उनकी सहजता -

मोको कहाँ ढूँढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में।  
ना मैं देवल, ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।

ना तो कौनो क्रियाकर्म में, नहीं जोग बैराग में।

खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं, पल भर की तालास में।  
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस में।

कबीर ने ‘संसकिरत’ के ‘कूप जल’ को छोड़कर ‘भाखा’ के बहते नीर के साथ बहना स्वीकार किया था। तभी तो उन्हें भाषा पर इतना अधिकार प्राप्त हुआ कि वे जो चाहते थे, वह सब उससे करवा लिया ! उनकी बहुआयामी भाषा पर टिप्पणी करते हुए रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं -

“जिस प्रकार कबीर का व्यक्तित्व निराला है, उसी प्रकार उनकी भाषा भी विशिष्ट और विरल है। वह जीवित भाषा है। यह वह भाषा है, जो मानव को उसके जीवन-मूल्य से परिचित कराती है और उसके स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा करती है। वह क्रांति की भाषा है।”<sup>10</sup>

अन्त में, इस संभावना पर भी विचार कर लेना जरूरी लगता है कि कबीर ने स्वयं कुछ नहीं लिखा होगा। यह भी हो सकता है कि उन्होंने पद्य रूप में कुछ कहा ही न हो ! बाद में हिन्दी क्षेत्र में जगह-जगह फैले उनके शिष्यों और अनुयायियों ने अपनी-अपनी बोलियों के अनुरूप उनके उपदेशों को पद्यबद्ध किया हो। लेकिन फिलहाल यह संभावना मात्र है।

कबीर जिस समय में रचनारत थे, वह हिन्दी भाषा साहित्य का निर्माण काल था। उसमें काव्योत्कर्ष की वैसी संभावना नहीं थी जैसी कि बाद में बनी। बावजूद इसके, उन्होंने जिस कुशलता से उसकी पूरी क्षमता और विविधता का दोहन किया, परवर्ती पीढ़ियों को संवेदना के साथ-साथ सशक्त-सक्षम भाषा का संस्कार दिया, वह अद्वितीय है। तभी तो, हिन्दी भाषा-साहित्य के हजार साल के विकास-विस्तार के बाद भी कबीर ही शीर्ष पर डटे हुए हैं।

### सन्दर्भ-सूची

1. हाजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2006, 170
2. डॉ० माता प्रसाद गुप्त, कबीर ग्रंथावली (भूमिका), प्रामाणिक प्रकाशन, आगरा, संस्करण: 1969, 70
3. रामचन्द्र तिवारी, कबीर-मीमांसा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण: 2007, 132,
4. वही, 136-137
5. वही, 138
6. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2006, 75
7. वही, 170
8. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण: 2012, 40
9. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2006, 170
10. रामचन्द्र तिवारी, कबीर मीमांसा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण: 2007, 67